© 2018 IJSRSET | Volume 4 | Issue 6 | Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099

ऋग्वेद में निहित आत्मतत्त्व का भारतीय दर्शन एवं दार्शनिकों के दृष्टिकोण से अध्ययन

डॉ0 गार्गी ओझा
असिस्टेन्ट प्रोफेसर
शिक्षक–शिक्षा संकाय
नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय)
इलाहाबाद।

संस्कृत वाङ्मय में आत्मतत्त्व का बहुधा निरूपण हुआ है। इस वाङ्मय के दर्शन पक्ष में आत्मा का विशेष महत्त्व दिया गया है। शास्त्रों में कहा गया है कि हर प्राणी में आत्मा नाम का एक तत्व होता है। आत्मा अमर है, अविनाशी है, नित्य है, सनातन है, अचल है इत्यादि शब्दों के माध्यम से इसे सिद्ध करने के लिए प्रमाण दिये जाते है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है **'आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रियं भवति'** अर्थात् व्यक्ति के हर कार्य के पीछे आत्मा होती है। आत्मा के अस्तित्व को लेकर भारत वर्ष में वैदिक युग से समकालीन युग तक विचार होते रहे।

आत्मा को एक द्रव्य माना जिसका अनिवार्य लक्षण या गुण चिन्तन करना है। देकार्त के अनुसार आत्मा चिन्तनशील द्रव्य है। यदि मनुष्य चिन्तनशील न हो तो उसके अस्तित्त्व को सिद्ध करना असंभव होगा इसलिए देकार्त चिन्तन करने को ही आत्मा का अनिवार्य गुण मानते हैं। मैं और चिन्तन में अवियोज्य सम्बन्ध है। आत्मा चिन्तनशील होने के कारण अचेतन द्रव्य से भिन्न गुण रखता है। जड़ द्रव्य का प्रमुख गुण विस्तार और चेतन द्रव्य का प्रमुख गुण विचार है।

दूसरे शब्दों में, जो चिन्तनशील नहीं है, वह आत्मा से रहित होता है। इससे सिद्ध होता है कि केवल मनुष्यों में ही 'आत्मा' पाया जाता है। मनुष्येतर प्राणी (पशु–पक्षी आदि) चिन्तन से रहित होने के कारण आत्मा से रहित है।

सर्वप्रथम वैदिक संहिताओं के अन्तर्गत आत्म सिद्धान्त के बीज उपलब्ध होते हैं। वैदिक ऋषि ने किसी सम्प्रदाय विशेष की दृष्टि से नहीं अपितु स्वतन्त्र रूप से सर्वोच्च सत्ता, देवता एवं सृष्टि आदि के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे।

भारतीय दर्शन के इस आत्मतत्त्व का ऋग्वेद संहिता में व्यापक रूप से वर्णन हुआ है। ऋग्वेद साहित्य में आत्मतत्त्व का संकेत आत्मन्, जीव, अश्व, प्राण आदि शब्दों के द्वारा किया गया है। ऋग्वेद संहिता में 'आत्मन्' शब्द शरीर प्राणसार चेतन तत्त्व और निज वाचक सर्वनाम आदि विभिन्न अर्थों में दृष्टिगोचर हो रहा है, उदाहरण के लिए ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में आत्मा शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में हुआ है।

शरीर अर्थ में–

उच्छुमा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते।
धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष।।[1]

इस मंत्र का भाव यह है कि रोग ग्रस्त पुरुष तुम्हारे आत्मा (शरीर) के प्रति अपनी शक्ति रूप धन प्रदान करने की इच्छा वाली औषधियों का बल उसी प्रकार उद्गत होता है, जिस प्रकार गो–शाला के प्रति गायें आगमन करती है।

यहाँ आत्मा शब्द का शरीर के अर्थ में स्पष्ट प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार निम्नलिखित मन्त्रों में भी आत्मा का शरीर के अर्थ में प्रयोग हुआ है–

मेहनादवनं करणाल्लोमभ्यरते नखेभ्यः।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते।।
अंगादङ्गाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते।।[2]

यहाँ आत्मा शब्द स्पष्ट रूप से शरीर का वाचक है।

निम्नलिखित मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि अश्विनी देवताओं को उसी प्रकार तीन में वेदियों में आने के लिए कहा गया है जिस प्रकार प्राणियों का आत्मभूत प्राणवायु उनके शरीरों में प्रविष्ट होता है–

विनो अश्विना यजता दिवे दिवे,
परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम्।
तिस्त्रो नासत्या रथ्या पराक्त
आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम्।।[3]

हे अश्विना, दिवे दिवे प्रतिदिनं यजता यष्टव्यो युवां न अस्मदीयां पृथिवीं वेदिरूपां भूमिं परिसर्वतः प्राप्य विधातु कक्ष्यात्रययुक्ते आस्तीर्णे बर्हिष्झि त्रिः त्रिवारं अशायतमं शयनं कुरुतम्। हे रथ्या रथस्वामिनो तिस्त्रः त्रिसंख्याकाः ऐहिकपाशुकसैमिकरूपाः वेदीः गच्छतम्। तत्र दृष्टान्तः– स्वसराणि शरीराणि आत्मेव वातः।

यथा प्राणिनामात्मभूतः प्राणवायुस्तदीयानि शरीराणि गच्छति, तद्वति! सायणभाष्यम्)

ऋ0 10/16/3 में मृतक को सम्बोधित करके कहा गया है कि 'तेरा चक्षु' सूर्य को प्राप्त हो और आत्मा वायु को।

एक स्थान पर आत्मा को प्ररेक रूप में कहा गया है–

'सूर्य चक्षुर्गच्छुत वातमात्मा' इत्यादि।

इसी प्रकार आत्मा को सार तत्त्व रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि–

आत्मा यज्ञस्य रंह्या सुष्वापः पवते सुतः।
प्रत्नं निपाति काव्यम्।।[4]

इस मन्त्र में आत्मा शब्द का प्रयोग निज वाचक सर्वनाम के अर्थ में हुआ है–

अदब्ध इन्छो पवसे मदिन्तम आत्मेन्द्रस्य भवसि धासिरूत्तमः
अभि स्वरन्ति बहवो मनीषिणो राजानमस्य भुवनस्य निसते।।[5]

(हे सोम, मंगल, दिव्यों में श्रेष्ठ तथा अनभिभूत रहने वाले तुम छाने (निचोउड़े) जाते हो। तुम स्वयं इन्द्र के उत्तम अन्न हो। इस लोक के राजा, तुम्हारी अनेक मनीषी जन स्तुति करते तथा तुम्हें प्राप्त करने के लिए जाते हैं।)

औषधीरिति मातरस्तद् वो देवीरूप ब्रुचे।
सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष।।[6]

''हे माता के समान हितकारिणी औषधियों तुमसे सम्बन्धित चिकित्सक को (अर्थात् रोगियों के रोग विनाशक हेतु तुम्हारा प्रयोग करने वाले वैद्य को) मैं औषधि प्राप्त करने के लिए अपने अश्वों, गायों, वस्त्रों तथा किमधिक, स्वयं को भी दे सकता हूँ।

इन मन्त्रों में आत्मा शब्द का प्रयोग स्वयं के अर्थों में हुआ है। निम्नलिखित मन्त्र में आत्मा शब्द का प्रयोग पार्थिव शरीर से भिन्न चेतन सत्ता के अर्थ में हुआ है–

'को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्या बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वसमुपगात् प्रष्टुमेतत्।।[7]

(प्रथम उत्पन्न होते हुए (जगत्) को किसने देखा जब अस्थिवान् अर्थात् सशरीर (जगत्) को अस्थिरहित अर्थात् अशरीर धारण किये हुए था? इस भूमि (अर्थात् लोको) का प्राण, रक्त तथा आत्मा कहाँ थी? इस रहस्य को पूछने के लिए कौन किस ज्ञानवान् के पास गया था?)

ऋग्वैदिक ऋषियों ने प्राण को जीवन तत्त्व के रूप में मान्यता दी है। ऋग्वेद में प्राण शब्द का लगभग दशवार प्रयोग हुआ है। वेदों के प्रख्यात भाष्यकार आचार्य सायण ने इसका अर्थ दो स्थानों पर चेष्टा तथा अन्य स्थलों में श्वास या प्राण वायु किया है। ऋग्वेद के पुरुष–सूक्त में पुरुष अर्थात् ब्रह्म के प्राण से वायु की उत्पत्ति बतायी गयी है–

प्राणाद् वायुरजायत।[8]

उपनिषदों में चार महावाक्य माने गये हैं– प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐतरेय उपनिषद् 5–1), 2. अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य उपनिषद–2), 3. तत्वमसि (छान्दोग्य उपनिषद्– 2–2–7), और 4. अहं ब्रह्मस्मि (बृहदारण्यक उपनिषद्–1–4–10)। 'तत्वमसि' (तू ही वह (ब्रह्म) है) उपदेश वाक्य है जो एक गुरु द्वारा अधिकारी प्रमाता को उपदेशरूप में दिया जाता है। 'अहं ब्रह्मस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) यह अनुभव वाक्य है। 'तत्वमसि' वाक्य 'अहं ब्रह्मस्मि' वाक्य का आधार वाक्य है।

प्रत्येक दर्शन का दूसरे दर्शन के साथ समन्वय है। इन सबमें कोई भी वास्तविक विरोध नहीं है। ये दर्शन परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। चार्वाक दर्शन के अनुयायी 'आत्मा' का पूर्ववत् पृथक् अस्तित्व न मानकर कोई तो स्थूल शरीर को, कोई उनसे सूक्ष्म इन्द्रिय को, कोई उससे भी सूक्ष्म प्राण को और कोई मन को ही आत्मा मानते हैं। ज्ञान के क्रमिक विकास के साथ–साथ जिज्ञासु को चार्वाक के सिद्धान्त से सन्तोष नहीं होता वे मानते हैं कि चैतन्य आत्मा का एक स्वतन्त्र विशेष गुण है। आत्मा एक भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है। इस स्तर के प्रतिपादन करने वाले नैयायिक तथा वैशेषिक कहलाते हैं। परमतत्त्व के जिज्ञासु को उपर्युक्त सिद्धान्तों से सन्तोष नहीं होता। इन तत्वों के यथार्थ स्वरूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर उनके मन में शंका होती है कि बिना कारण के कार्य नहीं होता। यदि आत्मा और मनस में स्वभावतः चैतन्य नहीं है तो इन दोनों के संयोग से भी चैतन्य नहीं उत्पन्न हो सकता। फिर आत्मा और मनस् का संयोग होते ही आत्मा में चैतन्य कहाँ से आता है, इसे खोजना आवश्यक है। इसका पता लगाने के लिए जिज्ञासु को सूक्ष्म दृष्टि की सहायता लेनी पड़ती है। बहिरिन्द्रय के द्वारा इसका ज्ञान किसी को नहीं हो सकता। सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा जिज्ञासु बौद्धिक (Psychic) जगत में प्रवेश करता है। वहाँ उसे स्पष्ट देख पड़ता है कि जिसे अभी तक अर्थात् न्याय–वैशेषिक–भूमि में वह आत्मा समझता था, वास्तव में वह प्रकृति के सत्वगुण का एक विकार है, जिसे 'बुद्धि' या 'महत्' कहते हैं। यह बहुत शुद्ध है इसलिए 'चैतन्य का प्रतिबिम्ब, जो परमतत्व से आता है; इस पर स्पष्ट पड़ता है और इसके प्रभाव से 'बुद्धि' चेतन की तरह मालूम होती है। वस्तुतः चैतन्य तो एक भिन्न पदार्थ है, जिसे पुरुष कहते हैं। यह त्रिगुणातीत और निर्लिप्त है। वास्तव में यही चैतन्य 'आत्मा' कहा जा सकता है और 'बुद्धि' जिसे स्थूल दृष्टि वाले 'आत्मा' समझते हैं, प्रकृति का सात्विक विकार मात्र है और जड़ है। यही सांख्य दर्शन का क्षेत्र है योग दर्शन की भी यही मान्यता है। मीमांसा मत में आत्मा अमर है। इसकी न उत्पत्ति होती है, एवं न विनाश ही। यह बुद्धि एवं इन्द्रियों से भिन्न है। आत्मा नित्य है जबकि बुद्धि एवं इन्द्रियां अनित्य है। आत्मा विज्ञान से भी भिन्न है। शंकराचार्य आत्मा को स्वयं सिद्ध मानते हैं। इसे सिद्ध करने के लिए तर्क की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब कोई कहता है 'मै हूँ' या मैं नहीं हूँ तब दोनों ही कथनों से आत्मा का अस्तित्व प्रकट होता है। शंकराचार्य अद्वैतवाद के प्रवर्तक हैं। इनके अनुसार परमसत्ता एक है। इसे ब्रह्म या आत्मा कहते हैं। रामानुज के अनुसार ब्रह्म अथवा ईश्वर के दो अंश हैं– अचित् और चित्। चित् ही आत्म या जीव है। आत्मा ईश्वर का ही एक अंग है। यह शरीर, मन एवं

इन्द्रियों से भिन्न है। इसकी सत्ता ईश्वर पर निर्भर है तथा इसका संचालक ईश्वर ही है। यह जीव कर्त्ता एवं कर्मफल भोक्ता है। निम्बार्क के मत से जीव अणु है, विभु नहीं है, मुक्तावस्था में भी वह जीव ही है। जीव का नित्यत्व चिरस्थायी है। मुक्त जीव भी अणु है। मुक्त एवं बद्धजीव में यही भेद है कि वृद्धावस्था में जीव ब्रह्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं कर सकता। वह दृश्य जगत् के साथ एकात्मकता को प्राप्त किये रहता है। किन्तु मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात् अनुभव करता है। इस प्रकार दार्शनिक प्रतिक्रिया एवं विकास का यह क्रम आज तक चला आ रहा है। यह क्रम भारतीय प्रतिमा की गतिशीलता, विकासोन्मुखता एवं चिन्तन की स्वतन्त्रता का द्योतक है।

स्वामी विवेकानन्द वेदान्त में विश्वास करते हैं वे कहते कि ''प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणी में, वह चाहे जितना दुर्बल या दुष्ट, बड़ा या छोटा हो, वही सर्वव्यापी, सर्वज्ञ आत्मा विराजमान है। अन्तर जो कुछ है वह आत्मा में नहीं उसके प्रकाश की न्यूनाधिकता में है। मुझमें और एक छोटे से प्राणी में अन्तर केवल प्रकाश के तारतम्य में है, पर स्वरूपतः वह और मैं एक ही हैं, वह मेरा भाई है। उसकी और मेरी आत्मा एक ही है। यही सबसे महान तत्व है। इसी का भारत ने जगत में प्रचार किया है। मानव जाति में भ्रातृभाव की जो बात अन्यान्य देशों में सुन पड़ती है उसने भारत में 'समस्त चेतन सृष्टि में भ्रातृभाव' का रूप धारण किया है, जिसमें सभी प्राणी छोटी छोटी चीटियों तक सभी जानवर शामिल हैं। ये सभी हमारे शरीर हैं।''[9] महात्मा गाँधी भी वेदों, पुराण, उपनिषद से प्रभावित हैं। उन्होंने ''हिन्दू धर्म के प्राचीन सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन या संशोधन नहीं किया, बल्कि उन्हें नये सिरे से आधुनिक समाज की आवश्यकतानुसार चुनकर एक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया। गाँधी जी एक वैश्विक आत्मा में पूर्ण विश्वास करते है। वह भी स्वीकार करते हैं कि मानवीय भाईचारे का अर्थ होता है ''हम एक दूसरे के पूरक है।'' इसका मतलब है कि तुम अपने आपको नुकसान पहुँचाए बिना दूसरों का नुकसान नहीं कर सकते।''[10] अर्थात् हम सबमें एक सी आत्मा है। गाँधी जी सबमें एक सी आत्मा मानते हुए विकास की संभावनाएं भी सबमें एक समान मानते हैं और स्वामी विवेकानन्द का मानना है कि विकास आत्मा में नहीं होता क्योंकि वह तो सदा समान ही है, विकास मन में होता है। मन जितना निर्मल होगा आत्मा को उतनी अच्छी तरह जान पाएगा।

गाँधी जी मनुष्य को शरीर, मन, आत्मा से बना प्राणी मानते हैं। शरीर आत्मा का बाह्य पक्ष है और मन आत्मा का भीतरी पक्ष है। स्वामी विवेकानन्द भी मानते है कि ''प्रत्येक व्यक्ति तीन तत्वों से बना है– देह, अन्तरीन्द्रिय अथवा मन, और आत्मा, जो इन सबके पीछे है। शरीर आत्मा का बाहरी आवरण है और मन भीतरी।''[11]

स्वामी विवेकानन्द एवं महात्मा गाँधी आत्मा को अर्मत्य मानते हुए कहते है कि मृत्यु भौतिक शरीर का होता है आत्मा का नहीं। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार, ''आत्मा कार्य कारण सम्बन्ध से अतीत है और इसी से आत्मा के सम्बन्ध में हमारी ये उच्च धारणाएं उत्पन्न हुयी हैं। यदि यह अस्वीकार किया जाए कि आत्मा स्वभावतः मुक्त है अर्थात् बाहर की कोई भी वस्तु उस पर कार्य नहीं कर सकती तो आत्मा के अमरत्व की कोई धारणा प्रस्थापित नहीं की जा सकती! क्योंकि मृत्यु हमारे बाहर की किसी वस्तु के द्वारा किया हुआ कार्य है। इससे ज्ञात होता है कि हमारे शरीर पर बाहरी कोई दूसरा पदार्थ कार्य कर सकता है। मान लो मैंने विष खाया और मेरी मृत्यु हो गयी तो इससे प्रमाणित होता है कि हमारे शरीर पर विष नामक एक बाहरी पदार्थ कार्य कर सकता है। यदि आत्मा के सम्बन्ध में यह सत्य हो कि वह

मुक्त है तो यह भी स्वभावतः ज्ञात होता है कि बाहरी कोई पदार्थ उस पर कार्य नहीं कर सकती आत्मा का मुक्त स्वभाव उसका अमरत्व एवं उसका आनन्द स्वभाव सभी इस बात पर निर्भर है कि आत्मा कार्य कारण सम्बन्ध अर्थात् माया से अतीत है।''[12] महात्मा गाँधी के अनुसार ''मनुष्य केवल अस्थि–मांस का समवाय मात्र न होकर उससे कुछ अधिक है। इस समस्त दृश्य, अस्थायी, अचेतन पदार्थ समूह के पीछे चैतन्य शक्ति आत्मा है जो अदृश्य, शाश्वत, सर्वव्यापी एवं सप्रबुद्ध है। यह ईश्वर का अंश है। दूसरे शब्दों में मनुष्य के अन्तस में निहित ईश्वरता है। गाँधी जी कहते हैं आत्मा तो इतनी नटखट है कि हमारे भीतर पड़ी हुयी है किन्तु हम उसे देख नहीं सकते। आत्मा एक ऐसा हिरन है कि रामचन्द्र जी जैसे व्यक्ति भी उसे मार नहीं सकते। रामचन्द्र जी सर्वशक्तिमान है। इसका यही अर्थ है कि वे उसी को मार सकते हैं जो मर्त्य है।''[13]

मोहम्मद इक़बाल के आत्मा के प्रत्यय में कई महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। वे काल को विषयिगत मानकर तथा दैशिक काल एवं वास्तविक काल (शुद्ध वर्तना) में अन्तर कर सफलतापूर्वक दिखाते हैं कि किस प्रकार आत्मा देश तथा दैशिक कोटियों से परे है। आत्मा को द्रव्य तथा मात्र क्रमिक अवस्थाओं का प्रवाह न मानकर उसे वास्तविक काल में घटित होने वाले परस्पर ओतप्रोत अनुभवों की सतत् विकासशील इकाई मानना भी इक़बाल की महत्त्वपूर्ण देन है।

श्री अरविन्द का कहना है कि मानव के सम्बन्ध में जो जन्म–मृत्यु आदि का प्रश्न उठता है– वे सभी मानव के बाह्य पक्ष तथा भौतिक पक्ष से सम्बन्धित है। चैत्य पुरुष सूक्ष्म आत्मा है, अतः वह जन्म–मरण के परे है। यह नष्ट नहीं होता। फिर भी यह जन्म–मृत्यु के लिए उत्तरदायी है। मृत्यु में जब बाह्य पुरुष का अन्त हो जाता है, तो उसका यह सूक्ष्म आत्म दूसरे शरीर को स्वीकार करने के लिए अग्रसर हो जाता है। इस प्रकार यह सूक्ष्म–आत्म ही मानव की आध्यात्मिक प्रगति का आधार है, जो जन्म पुनर्जन्म से होता हुआ मानव को पूर्ण आध्यात्म–ईश्वरत्व की ओर अग्रसर करता है।

डा0 राधाकृष्णन् मानते है कि आत्मा जीवन है, वह न द्रव्य है न शक्ति और न गतिहीनता है; उसकी सत्ता अपने आप द्वारा ही है, किसी वस्तुगत या आत्मगत द्रव्य के साथ उसकी तुलना नहीं है। राधाकृष्णन् के अनुसार मानव में स्थित आत्मा समस्त सृष्टि की मूलभूत सत्ता है। यदि हमसे मानव में स्थित आत्मतत्व की परिभाषा देने को कहा जाए तो एक निश्चित उत्तरदेना कठिन होगा। हम उसे जानते है, परन्तु उसकी व्याख्या नहीं कर सकते। जीवात्मा, ईश्वर एवं ब्रह्म एक ही विश्वव्यापी आत्मा के विभिन्न पक्ष है। जब आत्मा मनुष्य के शरीर एवं मन के माध्यम से व्यक्त होती है तब उसे जीवात्मा कहा जा सकता है; वह सत्ता जगत में अभिव्यक्त होने पर ईश्वर कहलाती है और ब्रह्म उस सत्ता की ऐसी अभिव्यक्ति है जिसकी वर्तमान जगत् केवल एक यथार्थ किन्तु आंशिक अभिव्यक्ति है।

निष्कर्ष–ऋग्वेद में आत्मा को कभी विश्व की आधारभूत चेतन शक्ति के रूप में और कभी मनुष्य के प्राण रूप में देखा गया है। फिर उपनिषदों में ऐसा वर्णन आता है कि विश्व में व्याप्त चेतन शक्ति ब्रह्म है और मनुष्य में जो शक्ति व्याप्त है वह आत्मा है। दार्शनिकों के प्रेरणादायक आत्मा के सिद्धान्त व्यवहारिक दृष्टि से उपयोगी है फिर भी आधुनिक सभ्यता का सबसे बड़ा अभिशाप यही है कि हम अपने यथार्थ व्यक्तित्व के प्रति उदासीन हो गये हैं और एक कृत्रिम, निष्प्राण, सतही जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

सन्दर्भ सूची

1. ऋग्वेद, 10 / 97 / 8
2. ऋग्वेद, 10 / 163 / 5.6
3. ऋग्वेद, 1 / 34 / 7
4. ऋग्वेद, 9 / 6 / 8
5. ऋग्वेद, 9 / 85 / 3
6. ऋग्वेद, 10 / 97 / 4
7. ऋग्वेद, 1 / 164 / 4
8. ऋग्वेद, 10 / 90 / 13
9. हिन्दू धर्म, स्वामी विवेकानन्द, प्रकाशक– स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, सन्–6.1.2010, पृ0 28–29
10. गाँधी एक अध्ययन (सत्याग्रह भीखू पारेख की दृष्टि में), मित्रा श्वेता, संपादिका– सुरजीत कौर जौली, प्रकाशक– कन्सैप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, सन्–2007, पृ0 139
11. ज्ञानयोग, स्वामी विवेकानन्द, प्रकाशक–प्रभात पेपर बैक्स, नई दिल्ली, सन्–2014, पृ0 197
12. व्यवहारिक जीवन में वेदान्त, स्वामी विवेकानन्द, प्रकाशक– ब्रह्मस्थानन्द, सन्–12.11.2008, पृ0 71
13. अनुभव चिन्तन मनन (खण्ड–2) 30 / 434 : 24 अप्रैल 1926, सम्पादक– श्रीचन्द्र रामपुरिया, प्रकाशक–जैन विश्व भारती संस्थान, सन्–1999